



अपने स्वर्गीय पिताजी श्री फतेह चन्द्र सक्सेना, जो प्रथम क्षेणी के उच्च अधिकारी होने के बाद भी सादगी और संतई की साक्षात मूर्ती थे, की डायरी का एक पत्र जो उन्होंने भगवान जी के नाम लिखा था ।

यह पत्र उन बच्चों के लिए प्रेरणाप्रद सिद्ध होगा जो अपने परिजनों से विमुख और खिन्न रहते हैं । सम्भवतः उनके मन में वृद्धजनों के प्रति अपनत्व के मनोभाव उत्पन्न हो सकें।



प्रभु के नाम एक पत्र

अन्तर्यामी प्रभु,

आप सब कुछ जानते हैं मेरे कुछ कहने की जरूरत नहीं। मगर मेरा मन बहुत भारी है आप से कुछ कहकर मन हल्का करना चाहता हूँ। किसी और से कहने से लाभ भी क्या? प्रत्येक व्यक्ति अपने स्थान पर स्वयं परेशान है। उसे दूसरे की परेशानी सुनना कब अच्छा लगेगा। यहां का नियम भी कुछ ऐसा ही है सुख के सब साथी हैं किन्तु दुःख में कोई साथ देकर झंझंट में क्यों पड़े। निराशा से घिर कर जब दुःखों के पहाड़ टूटते हैं तो एक मात्र आप ही सहायक होते हैं। दुखी मन को आप की कृपा के स्मरण से ही शान्ति मिल जाती है ।

आप ने मुझ जैसे असहाय पर बड़ी कृपा की और मुझे बहुत कुछ दिया। मगर मैं मूर्ख

भविष्य की चिन्ता छोड़ कर दोनों हाथों से खर्च करता रहा। ससांर में भिन्न प्रकृति के मनुष्य होते हैं, इसके निर्माता आप ही हैं। मेरा स्वभाव भी आप ने विचित्र बनाया । मुझे अपने सुख-दुःख की चिन्ता से अधिक स्वजनों और आश्रितों के सुख- दुःख की चिन्ता सदा घेरे रही। यह भले ही मेरा ममत्व माना जाये परन्तु उस स्वभाव को क्या करूं जो आप ने प्रदान किया। मैं प्रत्येक की भावना का ध्यान रखते हुये उसकी इच्छा पूरी करने की भरसक कोशिश करता रहा। इसमें धन का खर्च होना ही चाहिये क्योंकि लौकिक सुख बिना धन के प्राप्त होना सम्भव नहीं किसी का मलिन मुख देखकर उसके अभाव की पूर्ति करना मैंने आवश्यक समझा और यथा सम्भव उसे प्रसन्न करने की कोशिश करता रहा। भविष्य की ओर कभी ध्यान नहीं गया और न इसकी जरूरत ही समझी। आप की कृपा से अनेक सन्तोष प्राप्त हुए और भविष्य में उनसे सहायता मिलने की आशा में मैं अपने निर्धारित पथ पर बढ़ता रहा। परन्तु भाग्य में कुछ और ही था।

समय से पूर्व अवकाश लेना पड़ा। पास में धन नहीं था मगर एक आशा बंधी थी जो कुछ धन इसके बाद प्राप्त हुआ उसे दबा कर कैसे रखता। सिर पर गृहस्थी का पूरा बोझ था। इस बीच बीमारी विवाह इत्यादि भी आ पड़े और परिवार के मुखिया होने के नाते प्रत्येक कार्य में धन खर्च करना अनिवार्य हो गया। धन धीरे-धीरे घटने लगा ओर साथ ही भविष्य की चिन्ता सताने लगी। मगर धैर्य धारण किये रहा क्योंकि अपने लगाये वृक्षों के फलों की आशा सारी चिन्ता दूर कर देती। मगर समय के साथ आशा निराशा में बदलने लगी। गृहस्थी का भार कम न हो पाया और धन लगभग समाप्त हो गया। बिना स्रोत के सरिता भी सूख जाती है। पेंशन को छोड़ मेरी आय कुछ न थी और इस बढ़ती गिरानी के यह अल्प आय कैसे पार लगाये। जैसे तैसे कुछ वर्ष व्यतीत किये और अब वही स्थिति हो गई । जिसकी कभी आशा नहीं की थी।

पेंशन वृद्धावस्था का सहारा है, गृहस्थी का भार ढोने का साधन कदापि नहीं। ऐसी परिस्थिति में पड़ कर भी मैंने साहस नहीं छोड़ा और एक आशा के सहारे सूखे में नाव खेता चला आया। मैंने स्वयं कमाने के प्रयत्न भी किये मगर कहीं नौकरी न मिल सकी। छोटे-मोटे व्यापार की भी सोचता रहा मगर उसके लिए न साधन था और न कोई करने वाला। चिन्ता से लदा वृद्ध शरीर कल्पनाओं में भटकने के अतिरिक्त और कर भी क्या सकता है। समय की बात कि जहाँ अवकाश पाया वहीं गृहस्थी बसा कर रहना आवश्यक हो गया। यदि और रहता होता तो कोई भी कार्य करने में संकोच न होता मगर जहां

अफसर बन कर रहा वहाँ कोई ऐसा वैसा काम करने का साहस नहीं हुआ। इंस स्वाभिमान के और भी समस्या खड़ी करदी नहीं तो साहस लेने के बाद शरीर में बल और मन में साहस बहुत कुछ था मगर उसका कोई उपयोग न कर सका। इस अभिमान को चूर करने के लिये मैंने घर गृहस्थी के काम में कोई संकोच नहीं किया। हाट बाजार से सामान अपने ऊपर लाद कर ले आने में भी संकोच नहीं किया। मैं यह नहीं कह सकता कि यह कार्य मैंने स्वः का अन्त करने के लिये किया। यह सब विवश होकर ही करना पड़ा। मैं न करता तो करता कौन? पैसे की कमी ने भी मजबूर कर दिया और स्वयं हाट बाजार करने में कोई पैसा व्यर्थ खर्च नहीं होने पाया।

मेरी प्रबल इच्छा थी कि रहा सदा जीवन आप के चिन्तन में व्यतीत कर सकूँ मगर भावी बलवान होती हैं ऐसा अवसर एक दिन भी न मिल पाया जो मैं सांसारिक चिन्ताओं से मुक्त होकर मन एकाग्र कर सकूँ। सुबह से रात्रि तक अपनी सारी शक्ति और धन गृहस्थी की ज्वाला में हवन करना पड़ा और वह ज्वाला शान्त न हो पाई। एक समस्या सुलझ नहीं पाई कि दूसरी आन खड़ी हुई। गृहस्थी पालन किसी प्रकार करना ही था अतः सब की चिन्ता अपने ऊपर लेता रहा और जैसे भी बना आवश्यकताओं की पूर्ति की। इसपर भी न आश्रितों को पौष्टिक भोजन दे सका और न तन ढकने को उचित वस्त्र। उनके जीण क्षीणशरीर को और वस्त्र को देखकर हृदय रुदन करने लगता है मगर कोई राह दिख नहीं पड़ती।

किसी सन्तान से उचित सहायता न मिल पाने का दःख अवश्य है मगर कोई शिकायत नहीं। जो दो पुत्र कमाने लायक हैं उनकी अपनी गृहस्थी है और आय कम। वर्तमान समय को देखते हुये उन से किसी त्याग अथवा बलिदान की आशा भी नहीं कर सकता। दैव योग से आर्थिक सहायता का प्रश्न ही नहीं मुझे कोई सात्वना देने वाला भी नहीं, जिसकी इस समय अधिक आवश्यकता है।

अब आगे क्या होगा समझ में नहीं आता। मेरा शरीर भी जवाब देने लगा 62 वर्ष की आयु कुछ अधिक नहीं है मगर चिन्ताओं ने सारा शरीर झुला डाला । यदि आप की कृपा का सहारा न होता तो यह शरीर कब का नष्ट हो जाता । प्राप्तःकाल और सायंकाल आप से जो बल प्राप्त करता हूँ वही इस शरीर को रोके हुये है। आप की कृपा के स्मरण से एक स्फूर्ति दौड़ जाती है और प्रभात में एक नई आशा लेकर गृहस्थी के कार्य में लग जाता हूँ, मगर रात्रि में विश्राम करते समय फिर निराशा घर लेती है। उस समय भी

आप की दया और कृपा आशा का दीप बुझने नहीं देता और कल्पना जगत में खोकर रात्रि व्यतीत कर देता हूँ। दूसरे दिन फिर वही क्रम आरम्भ हो जाता है और इसी प्रकार दिन-महीने और वर्ष बीतते चले जाते हैं।

कभी मैं सोचता हूँ कि क्या यही जीवन है और इसका उत्तर अपने जीवन की वास्तविकता के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलता। मगर इसमें जीवन की सार्थकता कहां। जीवन की सार्थकता इसी में है कि शान्त वातावरणों में आप के चिन्तन में और सत्संग में समय कटे और अन्त में सब कुछ भूलकर केवल आप की स्मृति रह जाये। मगर वर्तमान परिस्थिति में इसकी आशा नहीं पाई जाती। शायद आप की ऐसी ही इच्छा है या यह कहूँ कि मेरे ही संस्कार इस समय लाभदायक होकर यह जीवन व्यर्थ नष्ट कर रहे हैं। जीवन में मैंने अनन्त त्रुटियां कीं और काम-क्रोध -भद -लोभ और मोह में पड़कर यर्थाथ से दूर हो गया । जिस संसार में मुझे भोग विलास का चमत्कार दिखाई देता था और जिसके पीछे मैं सदा दौड़ता रहा, उसने मुझे अन्त में अंधकार में लाकर पटक दिया। अब चहु ओर अधेरा ही अंधेरा है । न संसार ही सुधार पाया और न परलोक ही बन सका। वर्तमान में जो कुछ है वह मेरे ही संस्कारो का परिणाम है ।

कहते हैं कि पश्चाताप् की अग्नि में सारे संस्कार भस्म हो जाते हैं मगर मुझे इससे भी कोई लाभ अबतक दिखाई न दिया। पश्चाताप् में करता हूँ मगर शायद हृदय का मैल नहीं धो पाता जिसके कारण पीड़ा बनी ही रहती है। इसके लिये मैं क्या करूँ कुछ समझ में नहीं आता। गृहस्थी का भार और बढ़ती गिरानी के कारण मन स्थिर नहीं हो पाता। शरीर में एक अग्नि सुलग रही है जिसका धुआं आहों के साथ निकलता रहता है यदि यह अग्नि प्रज्वलित होकर शरीर को एक साथ जला डाले तो सारी विषमतायें स्वतः समाप्त हो जायें। धीरे-धीरे सुलगने से बढ़कर पीड़ा क्या होगी।

सुना है कि आप परम दयालु और कृपालु हैं। आप सदा रक्षा ही करते हैं। आप के विधान काम करता रहता है वही विधान मुझे दंड दे रहा है अतः मुझे आप से कोई शिकायत नहीं । संस्कारों को भोग लेना ही अच्छा है मगर मेरे कारण और सब को जो कष्ट हो रहा है वह मुझसे सहन नहीं होता। मुझे जो भी कष्ट होंगे आप का प्रसाद समझकर ग्रहण करता रहूँगा मगर मेरे सम्बंध से जो भी और हैं उन्हें किसी प्रकार का कोई कष्ट न पहुंचे, ऐसी इच्छा मन में उठती रहती है।

शास्त्रों का कथन है कि आप शरण में आये की रक्षा करते हैं। मैं सब ओर से निराश

होकर आप की शरण में आया हूँ, फिर आप मुझे क्षमा क्यों नहीं करते। आप अपनी स्वभाविक कृपालुता से मुझ शरणागत की ओर एक बार देख लें तो मेरे मन का अंधकार मिट जाये। अपने स्वभाव के कारण मैं सहायता की आशा में इधर -उधर चाहे कितना भटकूँ मगर मेरा मन कहता है कि आप की कृपा के बिना अपने भी सहारा नहीं दे सकते।

जिज्ञासा

क्या इंसान को भौतिकवाद में जीना चाहिए ?

क्या इंसान को अपने को पूरी तरह से प्रभु को समर्पित कर देना चाहिए ?

इंसान को इन दोनों के बीच का अथवा दोनों का रास्ता साथ-साथ अपनाना चाहिए ?

क्या सज्जन, सत् पुरुष अथवा संत का जन्म कष्ट भोगने के लिए ही होता है ?